फरवरी १९९६ हिंदी पत्रिका में प्रकाशित

धर्म एवं विज्ञान

– प्रो. पी. एल. धर, आई.आई.टी., नई दिल्ली-१६

जिज्ञासा मानव का मौलिक स्वभाव है। जन्म से ही शिशु अपने चारों ओर फैले विश्व को जानने-समझने का प्रयास करता है। और जैसे-जैसे बड़ा होता है, घटनाओं के निहित कारणों को समझने लगता है – यथा, आग पर हाथ रखने से जलन होती है, बर्फ डालने से पानी ठंडा हो जाता है – और हम कहते हैं बालक ज्ञानार्जन कर रहा है। बाह्य जगत के बारे में इंद्रियों द्वारा अर्जित समस्त ज्ञान को सुचारु रूप से वर्गीकृत कर प्रकृति के मूलभूत नियमों की खोज करना आधुनिक विज्ञान का उद्देश्य है।

युवावस्था पार करते-करते, जीवन के नाना उतार-चढ़ाव से जूझते हुए, देर-सबेर यह प्रश्न भी हर मानव के मन में उठने ही लगता है – यह जीवन क्या है? जन्म लेना, विद्यार्जन करना, जर्जरित होना और मृत्यु को प्राप्त होना। क्या मृत्यु ही जीवन की परिणति है या इस जीवन का कोई उद्देश्य भी है? इस जीवन में इतना दुःख क्यों है? बीमारी का दुःख, बुढ़ापे का दुःख, मृत्यु का दुःख, प्रिय वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति से बिछोह का दुःख; अप्रिय वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति से संयोग का दुःख। क्या इस दुःख से नितांत विमुक्ति का कोई उपाय है? और तब मानव गहन चिंतन प्रारंभ करता है। जीवन के अनुभवों को गहराई से विश्लेषण कर दुःख के मूल कारण की खोज करने लगता है। अंतर्जगत के नियमों को समझ, जीवन को उनके अनुरूप ढालने का प्रयास करता है। धार्मिक होने लगता है। अंतर्जगत के इन मूलभूत नियमों का सुचारु रूप से प्रतिपादन करता है ताकि हर मानव इसका स्वयं अनुभव कर सके, यह धर्म का उद्देश्य है।

इस दृष्टिकोण से धर्म एवं विज्ञान एक दूसरे के पूरक हैं। ईशोपनिषद में इस पूरकता को इस अनूठे ढंग में प्रस्तुत किया गया है:

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा, विद्ययामृतमश्नुते॥

विज्ञान (खास तौर पर इसका औद्योगिक रूप अर्थात प्रौद्योगिकी) हमें अपनी शारीरिक आवश्यकताएं पूरी करने की क्षमता प्रदान करता है ताकि हम शरीर को स्वस्थ रख दीर्घायु हों (अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा), एवं धर्म (विद्या) हमें वह मार्ग दिखाता है जिस पर चल कर हम अपने जीवन का उद्देश्य अमरत्व प्राप्त कर सकें (विद्यया अमृतम् अश्नुते)। स्पष्ट है, हर समाज के सर्वांगीण विकास के लिए – वरन केवल समाज के ही नहीं, हर प्राणी के सर्वांगीण विकास के लिए धर्म एवं विज्ञान का उचित समाकलन होना आवश्यक है। आधुनिक काल में यह और भी अधिक आवश्यक हो जाता है जबकि धर्म के ह्रास के कारण विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी की अत्यधिक प्रगति पृथ्वी के भयंकर भौगोलिक प्रदूषण एवं मानव समाज के सर्वांगीण नैतिक पतन का हेतु बन रही है।

धर्म को आज ऋत के पर्यायवाची के रूप में समझना चाहिए। ऋत का शाब्दिक अर्थ है, 'स्थिर और निश्चित नियम, दिव्य नियम, दिव्य सच्चाई'।

अतः धर्म मानव के अंतर्जगत के नियमों का प्रतिपादन करता है तथा विज्ञान बाह्य जगत के नियमों का। धर्म एवं विज्ञान में केवल "खोज क्षेत्र" का अंतर है – यथा, विज्ञान के विभिन्न विभागों जैसे भौतिकी, रसायनशास्त्र, वनस्पतिशास्त्र आदि के 'खोज क्षेत्रों' में भिन्नता है। तो फिर आज समाज में धर्म एवं विज्ञान के विरोधाभास की अवधारणा क्यों?

इस धारणा के कई कारण हैं। सर्वप्रथम तो यह कि आज समाज में धर्म एवं विज्ञान दोनों के बारें में व्यापक भ्रांति है। आज अधिकतर लोग धर्म को संप्रदाय का पर्यायवाची मानते हैं, कर्मकांड, रूढ़िवादिता, सांप्रदायिक-दार्शनिक मान्यताओं और अंधविश्वासों से जोड़ते हैं जिनका बुद्धि द्वारा विश्लेषण कतई वर्जित है। आज का शिक्षित नवयुवक जब 'धर्म' के इस स्वरूप के कारण समाज में फैले व्यापक तनाव एवं अशांति को देखता है तो स्वाभाविक है कि वह इससे दूर ही रहना पसंद करता है। उसे 'धर्म' शब्द से ही चिढ होने लगती है। वह धर्म के सही स्वरूप को जानने का प्रयास भी नहीं करना चाहता और इस प्रकार दुर्भाग्यवश उन शाश्वत सत्यों से वंचित रह जाता है जो उसके जीवन को सही दिशा दे सकते हैं। यह प्रक्रिया 'विज्ञान' की भ्रामक समझ के कारण और प्रबल हो जाती है क्योंकि आज अधिकतर लोग 'वैज्ञानिक स्वभाव' को 'भौतिकवाद' का पर्यायवाची मानने लगे हैं। आज बहुप्रचलित अवधारणा यही है कि विज्ञान के अनुसार इस जगत का अंतिम सत्य भौतिक पदार्थ – अणु, परमाणु ही है तथा यह मानना कि इंद्रियों से परे भी कोई सत्य है, एक अवैज्ञानिक अंधविश्वास है। इस दृष्टिकोण से देखें तो विज्ञान और धर्म का समन्वय असंभव ही लगता है।

यह परिस्थिति तभी बदल सकती है जब हम धर्म और विज्ञान दोनों के बारे में प्रचलित भ्रांतियों को दूर करें। इसके लिए सर्वप्रथम धर्म के शुद्ध स्वरूप का वैज्ञानिक ढंग से प्रतिपादन करना होगा। वैज्ञानिक दृष्टिकोण का तात्पर्य यह है कि हम थोपी हुई मान्यताओं और सिद्धांतों में न उलझ कर सच्चाई से प्रेरित हों। तथ्यों के आधार पर निष्कर्ष निकालें, न कि निष्कर्ष से शुरू करके तथ्यों में उलझें। दूसरे हमें यह भी समझने की आवश्यकता है कि भौतिकवाद जो कि उन्नीसवीं सदी के विज्ञान की विरासत है, क्या आज भी आधुनिक विज्ञान द्वारा अनुमोदित किया जाता है? सौभाग्यवश, विज्ञान के क्षेत्र में पिछले कुछ दशकों में हुई नयी खोजों ने पारंपरिक विचारधारा से भिन्न छवि हमारे सामने प्रस्तुत की है। और इन नयी खोजों को यदि हम गहराई से समझ सकें तो हम निश्चित रूप से विज्ञान व धर्म के बीच की दूरी को कम कर सकते हैं।

थॉमसन के शब्दों में "विज्ञान का उद्देश्य अनुभव के आधार पर जाने हुए अवैयक्तिक तथ्यों को यथासंभव सही रूप में, यथासंभव सरल रूप में व यथासंभव पूर्णरूप में समझाना है।" स्पष्ट रूप से यदि धर्म को एक ऐसे 'कानून' या 'नियम' के रूप में प्रस्तुत किया जा सके जिसकी सभी अनुभूति कर सकते हों, एक ऐसा नियम जो कि तर्कसंगत व युक्तिसंगत हो, सर्वहितकारी हो। जिसे स्वयं के अनुभव द्वारा जांचा जा सकता हो, सत्यापित किया जा सकता हो, तब धर्म पूर्ण रूप से विज्ञान का ही अंग बन जायगा।

अध्यात्म के क्षेत्र में महान वैज्ञानिक भगवान बुद्ध की शिक्षाएं भी यही कहती हैं। जिस प्रकार एक आधुनिक वैज्ञानिक अपने

शिष्यों को अंधविश्वास व अंधानुकरण से बचने की सलाह देता है, उसी प्रकार भगवान बुद्ध की भी अपने शिष्यों को यही चेतावनी थी – "तुम किसी बात को केवल इसलिए मत स्वीकार करो कि यह बात अनुश्रुत है, परंपरागत है, इसी प्रकार कही गयी है, धर्मग्रंथ के अनुकूल है, तर्क-सम्मत है, न्याय-शास्त्र-सम्मत है, इसके कहने का तौर-तरीका सुंदर है, यह बात हमारे मत के अनुकूल है, कहने वाले का व्यक्तित्व आकर्षक है, कहने वाला श्रमण हमारा पूज्य है। जब तुम आत्मानुभव से स्वयं जान लो कि इसमें वस्तुतः हित-सुख समाया हुआ है तो ही उसे स्वीकार करो और आचरण में उतारो।"

सभी महान संतों के अनुसार धर्म का तत्व एक ही है और वह है – "समस्त बुराइयों को त्याग कर सुकर्मों में पुष्ट हो जाना तथा अपने चित्त को पवित्र व निर्मल कर लेना।" संभव है किसी भी प्रकार के जटिल आध्यात्मिक पांडित्य या दार्शनिकता से विहीन इस कथन में इसकी गहराई या गांभीर्य नजर न आ सके, किंतु यह बात स्पष्ट है कि यह कथन सार्वजनीन रूप से उपयुक्त व हितकर है। इस दृष्टिकोण से देखें तो मन को विकारों व दोषों से विहीन करके शुद्ध कर लेना ही धर्म का सार है, क्योंकि यह निश्चित रूप से हमें सुकर्मों की ओर प्रेरित करेगा और धीरे-धीरे जीवन के आधारभूत सत्यों की जानकारी करायेगा। शुद्धिकरण की यह विधि जनसाधारण की समझ के परे, कोई रहस्यमय गुप्त ज्ञान नहीं है बल्कि यह एक पूर्णतया वैज्ञानिक तकनीक है, जिसे कोई भी सीख सकता है, परख सकता है और इस मार्ग पर चल सकता है।

विपश्यना ही धर्म का वह मार्ग है।

मन का शुद्धिकरण किसी तालाब के गँदले पानी को साफ करने के समान है। तालाब को साफ करने के दो तरीके हो सकते हैं। एक तो यह कि उसमें फिटकरीया अन्य कोई अवक्षेपक बाहर से मिला दिया जाय जिससे कि सारी गंदगी तालाब के तल पर बैठ जाय और दूसरा यह कि तालाब के भीतर जाकर एक-एक अशुद्धि को देख कर उसे बाहर ही निकाल लिया जाय। निश्चित रूप से दूसरा तरीका कठिन है और यह भी संभव है कि हमारे कपड़े भी इस तरीके में खराब हो जायें। लेकिन इस तरीके के लाभ भी स्पष्ट हैं – पहले तरीके में हम गंदगी को केवल अवक्षेपित कर रहे हैं लेकिन गंदगी अब भी तालाब के भीतर है ही। थोड़ी सी हलचल उसे फिर ऊपर ला देगी और तालाब पूर्णतया गंदा हो जायगा। परंतु दूसरे तरीके में हमने गंदगी को वस्तुतः निकाल दिया है और जब तक हम नयी गंदगी अपनी ओर से नहीं डालते, तालाब स्वच्छ व निर्मल ही बना रहेगा। प्राचीन संतों ने दोनों ही तरीकों को परखा। एक में मनोविकारों को दबाना ही उद्देश्य था और दूसरे में उन्हें निकाल कर उनसे मुक्त हो जाना।

विकार के जागने पर यदि हम अपना ध्यान कहीं और ले जायें जैसे कि संगीत सुनने लग जायें या एक गिलास पानी पी लें या फिर किसी देवी-देवता या महापुरुष का नाम जपने लग जायें या किसी महान, उच्च विचार का चिंतन करने लगें तो वह विकार अंतर्मानस में दब जायगा। कुछ समय के लिए विकार की तीव्रता निश्चित रूप से कम हो जायगी लेकिन विकार से छुटकारा नहीं मिलेगा, मुक्ति नहीं मिलेगी। विकार केवल दब जायेंगे और आधुनिक मनोविज्ञान के अनुसार भी इन दबे हुए विकारों की छवि हमारे मन की अचेतन व अवचेतन सतहों पर अंकित ही रहेगी। मन की अशुद्धियों या विकारों को निकालने के लिए यह आवश्यक है कि उनसे वशीभूत हुए बिना, और बिना किसी प्रतिक्रिया किये, उन्हें वस्तुनिष्ठ रूप से देखा जाय। ऐसा करने पर यह पता चलता है कि मन व शरीर के स्कंध का "अनासक्त अवलोकन" ही मन को शुद्ध करने के लिए काफी है।

स्वामी विवेकानंद जी के जीवन की एक घटना बड़ी अच्छी तरह इस बात को समझाती है। एक बार स्वामी जी वाराणसी में एक गली से गुजर रहे थे। अचानक कुछ बंदर शायद उनकी वेशभूषा से प्रभावित होकर उनके पीछे लग गये। अब जैसे ही बंदर उनके निकट आये, स्वामी जी ने तेजी से भागना शुरू कर दिया। स्वामी जी जितनी तेजी से भागते, बंदर उतनी ही तेजी से आते और आक्रमण करते। ऐसा लगने लगा कि इन बंदरों से बच पाना असंभव सा ही है, परंतु तभी एक बूढ़े आदमी ने जो कि यह सब घटनाक्रम देख रहा था, स्वामी जी को पुकारा और उन बंदरों का सामना करने के लिए कहा। स्वामी जी तत्काल रुक गये और पीछे मुड़ कर उन बंदरों का सामना किया। तत्काल बंदर भी रुक गये और थोड़ी देर बाद भाग निकले।

हमारे मन के विकार इन्हीं बंदरों के समान हैं। इनसे मुक्त होने का भी एक ही तरीका है, और वह है उनका सामना करना, भोक्ताभाव से प्रतिक्रिया किये बिना उनको द्रष्टा भाव से देखना। परंतु मन के विकारों को कोई कैसे देखे? उदाहरण के तौर पर क्रोध आने पर वगैर उसके वशीभूत हुए कोई उसे कैसे देख सकता है? हमारे महान संतों ने मन व शरीर स्कंध की जटिलताओं का खूब गहराई से अध्ययन किया तथा यह जाना कि मन में जब भी कोई विचार पैदा होता है, उसके साथ कोई न कोई संवेदना शरीर में अवश्य उत्पन्न होती है – **वेदना समोसरणा, सब्बे धम्मा** और यह भी जाना कि भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में घटनाओं व व्यक्तियों के प्रति हमारी प्रतिक्रियाएं वास्तव में इन शारीरिक संवेदनाओं के प्रति हमारे अवचेतन मन की प्रतिक्रियाएं ही हैं। यद्यपि इन मनोभावों को द्रष्टाभाव से देखना ही विपश्यना साधना का सार है। इस साधना के अभ्यास से साधक धीरे-धीरे मन की गहराइयों में उतरता है। और मन के भीतर दबी हुई कई जन्मों से संग्रहीत सुखद के प्रति राग करने की प्रवृत्ति, दुःखद के प्रति द्वेष करने की प्रवृत्ति व 'ना सुखद ना दुःखद' की उपेक्षा की प्रवृत्ति से छुटकारा पाना शुरू कर देता है। अज्ञान के अंधकार से बाहर आकर शरीर-स्कंध व चित्त-स्कंध की प्रकृति को पहचान कर अनित्य, दुःख व अनात्म रूपी सत्य का साक्षात्कार करता है।

एकाग्रता

शरीर में निरंतर होने वाली इन संवेदनाओं को देख सकने के लिए एकाग्रता का होना बहुत आवश्यक है ताकि साधक दिनों-दिन बढ़ती आंतरिक व बाह्य अशांति से ग्रिमत हुए बिना धर्म के मार्ग पर चल सके।

मन की एकाग्रता कई तरीकों से बढ़ायी जा सकती है। विपश्यना में अपने सांस पर मन एकाग्र करना सीखते हैं। इसे 'आनापान' साधना कहते हैं। पालि शब्द आनापान का अर्थ है – 'भीतर आने व बाहर जाने वाला श्वास।' इस साधना में हम अपने स्वाभाविक, नैसर्गिक सांस का शांत, स्थिर चित्त से अनुभव करने का अभ्यास करते हैं।

मन की एकाग्रता बढ़ाने के लिए श्वास का आलंबन चुनने के कई कारण हैं। पहला तो यह कि श्वास का किसी संप्रदाय से कोई लेना-देना नहीं है। श्वास सार्वजनीन होता है, सबको स्वीकार्य है और साथ ही हर समय उपलब्ध है। दूसरा कारण यह कि हमारे सांस का हमारे मन से बहुत गहरा संबंध है। एक महत्त्वपूर्ण कारण यह भी है कि श्वास न तो मन में राग जगाता है और न ही द्वेष। सांस पूर्णरूप से तटस्थ आलंबन है। निश्चित रूप से ऐसे आलंबन पर निरंतर, लंबे समय तक ध्यान एकाग्र कर पाना कठिन है क्योंकि आज हमारा मन केवल सुखद अनुभवों द्वारा जनित उत्तेजना में ही लगता है। लेकिन यदि धैर्यपूर्वक, शांत चित्त से लगातार प्रयास किया जाय तो अपने जिद्दी व उच्छृंखल मन की आदत में परिवर्तन लाया जा सकता है और इस समता सुख का थोड़ा-थोड़ा अनुभव कर सकते हैं। आनापान साधना का फल है – मन की शांति, स्थिरता तथा तीक्ष्ण एकाग्रता।

एकाग्रता बढ़ाने के लिए एक ऐसा आलंबन भी चुना जा सकता है जिसके प्रति साधक के मन में श्रद्धा, आदर व भक्ति हो। इससे मन को एकाग्र करना तो अवश्य ही सुगम हो जाता, परंतु साथ ही हम अपने आलंबन के प्रति राग बढ़ाने लगते, जिस कारण मन को निर्मल करने के मूल लक्ष्य से दूर चले जाते।

इस विधि के सफल अभ्यास की एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण आवश्यकता है नैतिकता के आधारभूत सिद्धांतों यानी शील-सदाचार का कड़ाई से पालन करना, यथा - किसी भी प्राणी की हत्या न करना, चोरी न करना, झूठ न बोलना, व्यभिचार न करना, नशा-पता न करना। इनमें से किसी भी शील को जानबूझकर भंग करने का तात्पर्य है मन को अत्यंत व्याकुल कर लेना और ऐसी स्थिति में शरीर व चित्त-स्कंध को द्रष्टाभाव से देख पाना असंभव है। विपश्यी साधक अपने अनुभव से स्वयं ही समझ जाता है कि शील का पालन करने में, शीलवान बनने में ही उसका कल्याण निहित है। वह अपने आप इन शीलों का गंभीरता से पालन करता है। नैतिकता व सदाचरण एक ऐसे वैज्ञानिक व तर्कसंगत अनुशासन में बदल जाते हैं जिसे व्यक्ति, सामाजिक मान्यताओं के दवाब में आकर या मात्र गुरु के प्रति आदर भाव के कारण नहीं बल्कि स्वयं के अनुभव के आधार पर धारण करता है। अब तक के महानतम वैज्ञानिकों में से एक अलबर्ट आइस्टींन के विचार भी यही थे – सदाचार का आधार यदि कोई परंपरा या कोई महान व्यक्ति हो तो उस परंपरा का व्यक्ति के प्रति उत्पन्न संदेह निश्चित रूप से सदाचरण पर विश्वास डगमगा देगा।

विपश्यना के उपरोक्त वर्णन से यह स्पष्ट है कि विपश्यना प्रायोगिक विज्ञान ही है – अपने मानस को पूर्णरूप से शुद्ध करने की एक वैज्ञानिक तकनीक है। किसी भी अन्य आधुनिक तकनीक की भांति यह साधना भी हर प्रकार के पूर्वाग्रहों या व्यक्तिनिष्ठ विचारों से विहीन, चेतनायुक्त सजग मन से शरीर व चित्त-स्कंध का मात्र अवलोकन है। किसी अन्य विज्ञान या आधुनिक टैक्नोलॉजी की तरह इसे भी आसानी से समझा जा सकता है और इसके परिणाम स्वयं के अनुभव से जांचे-परखे जा सकते हैं।

'एहि पस्सिको एहि पस्सिको' ... इसे अनुभव करके देखो... यही भगवान बुद्ध बारंबार कहते थे। इस साधना के अभ्यास के लिए न तो किसी कर्मकांड या पूर्व-मान्यता की जरूरत है, न ही किसी प्रकार की पूर्व-आस्था की आवश्यकता। किसी भी अन्य प्रौद्योगिकी (टैक्नोलॉजी) की तरह इसे भी किसी भी जाति, वर्ग, संप्रदाय, देश या दार्शनिक मान्यता वाला व्यक्ति सीख सकता है।

यद्यपि विपश्यना का मुख्य उद्देश्य मन को निर्मल करना है, परंतु इसे केवल एक ऐसे साबुन की तरह नहीं समझना चाहिए जिसे इस्तेमाल करने के बाद स्नानागार में छोड़ दिया जाय। विपश्यना तो जीवन का एक दृष्टिकोण है। एक ऐसी सुगंध है जो समझदार साधक के साथ प्राणीमात्र के प्रति प्रेम व करुणा के रूप में – सर्वदा साथ रहती है क्योंकि जैसे-जैसे मन की निर्मलता बढ़ने लगती है यह सद्गुण स्वतः ही विकसित होने लगता है।

विपश्यना जीवन जीने की कला है। यह जय-पराजय, मान-अपमान, गिरते हुए स्वास्थ्य व आसमान को छूती मँहगाई - इन सब के बीच सम के भाव से स्थित होकर सुखी जीवन जीने की कला है। इन्द्रिय दमन नहीं वरन इन्द्रियों के कारागार से मुक्ति पाने की कला है। जैसे-जैसे साधक विपश्यना में परिपक्व होने लगता है वैसे-वैसे अंतर्जगत के नियमों को समझकर जीवन को उनके अनुरूप ढालने का प्रयास करने लगता है - धर्म में मजबूत होने लगता है।

.... (क्रमशः अगले अंक में)

नई पुस्तकें

१) तिपिटक में सम्यक संबुद्ध

भाग –१; मूल्य अजिल्द = रु. १२५ - सजिल्द = रु. २५० -

पूज्य गुरुजी द्वारा हिंदी में लिखी गयी चिरप्रतीक्षित यह पुस्तक वस्तुतः तिपिटक की एक लंबी भूमिका है जिसे पाठकों की सुविधा के लिए लगभग ३००-३०० पृष्ठों के क्रमशः दो भागों में प्रकाशित किया गया है। इसमें पूज्य गुरुजी ने बुद्धवाणी के अनेकानेक उद्धरण देकर भगवान सम्यक संबुद्ध के गुणों का विवरण इतनी सटीक और सरल भाषा में लिखा है कि गुणों की जानकारी के साथ ही धर्म की गंभीरतम बातें भी बड़ी आसानी से समझ में आ जाती हैं जिससे कि साधक भगवान बुद्ध के प्रति श्रद्धालु होकर उनकी बतायी हुई साधना के अभ्यास द्वारा अपने मनुष्य-जीवन को सार्थक करने में जुट जाने की प्रेरणा प्राप्त करता है।

इसी कड़ी में आगे 'धर्म' की विशद व्याख्या करते हुए **तिपिटक में सद्धर्म** और फिर 'संघ-गुणों' की व्याख्या करते हुए **तिपिटक में आर्य-संघ** के भी दो-दो भाग प्रकाशित होंगे।

२) A Re-Appraisal of Patanjali's Yogasutras

by S.N. Tandon, Price: Rs. 80/-

उपाचार्य श्री टंडनजी द्वारा अंग्रेजी में लिखी गयी इस पुस्तक में पातंजलि के योग-सूत्रों पर दृष्टपात करते हुए भगवान बुद्ध द्वारा प्रणीत विपश्यना साधना की गहराइयों का उल्लेख किया गया है। पुस्तक में उद्धरणों द्वारा यह स्पष्ट संकेत मिलता है कि पातंजलि ने भगवान की शिक्षा को बड़ी गहराई से समझा परंतु तब तक विधि के लुप्त हो जाने के कारण यह विद्या विधिवत नहीं सिखायी जा सकी और बाद में केवल शारीरिक योगासनों तक और प्राणायामों तक ही सीमित होकर रह गयी।

साधकों के उद्गारः आस्ट्रेलिया से मेगान डोनेमन ने लिखा है, "आप यह जो मानवमात्र के मंगल के लिए (विपश्यनारूपी) आश्चर्यजनक उदाहरण दुनिया के सामने रख रहे हैं इससे लाभान्वित होकर अपनी कृतज्ञता व्यक्त किए बिना नहीं रह सकता। आप दीर्घायु होकर चिरकाल तक यह धर्मकार्य संपन्न करते रहें, यही मंगल कामना!"